फूल जो सदा महकते ही रहेंगे

6689
14/9/80

फूल

जो सदा

महकते ही रहेंगे

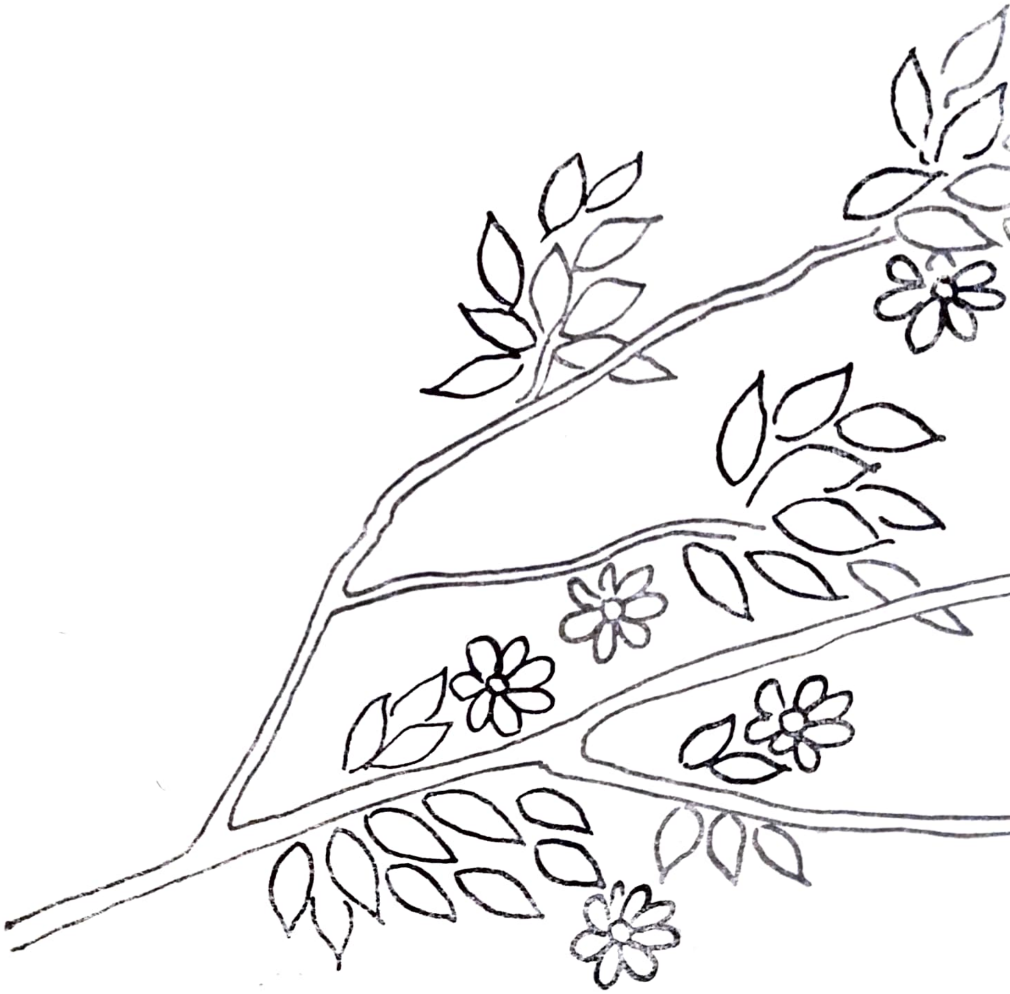

विद्यार्थी प्रकाशन

फूल जो सदा महकते ही रहेंगे

श्री व्यथित हृदय

प्रकाशक : विद्यार्थी प्रकाशन/ © विद्यार्थी प्रकाशन / संस्करण १९८० / मूल्य : ४.५० रुपये
मुद्रक : कमला फाइन आर्ट प्रेस, ए २६, न्यू गोविन्दपुरा, रशीद मार्केट, दिल्ली–११००५१
PHOOL JO SADA MAHAKATE HI RAHENGE By Shri Vyathith Hriday

विषय-सूची

ईश्वर में विश्वास	७
गुरु के चरणों में	१०
मातृ-भक्ति : पितृ-भक्ति	१६
भाई से भाई का प्रेम	२०
प्रीति-पूर्ण मित्रता	२४
सुन्दर आतिथ्य	२६
शरणागत वत्सल	३५
सेवा की अनन्यता	३६

★★★

ईश्वर में विश्वास

ईश्वर में विश्वास का अर्थ है, सबसे प्यार करना, सबको स्नेह देना, गिरे हुओं को उठाना, गरीबों की मदद करना, और दूसरों की भलाई में अपने आपको मिटा देना ! अपने हृदय में टटोलकर देखो, क्या ये सभी गुण तुम्हारे अपने हृदय में हैं ? यदि नहीं, तो तुम ईश्वर में विश्वास नहीं करते ।

तुम कह सकते हो कि हम मन्दिर, मस्जिद या गिरजे में प्रतिदिन जाते हैं । और प्रतिदिन नियम से प्रार्थना, भजन या कीर्तन करते हैं । पर क्या तुम्हारे मन में किसी दीन-हीन, काले-कुरूप बालक को देखकर प्यार उमड़ पड़ता है, क्या किसी बेसहारा, अपाहिज, रोगी को देखकर उसकी सेवा के लिए तुम्हारे हृदय के भीतर कचोट उठ पड़ती है, और क्या किसी भूखे आदमी की करुण पुकार सुनकर तुम्हारे मन में दया जाग पड़ती है ? यदि नहीं, तो तुम 'ईश्वर में विश्वास' नहीं करते और तुम्हारी प्रार्थना, भजन और कीर्तन, सब कुछ व्यर्थ है ।

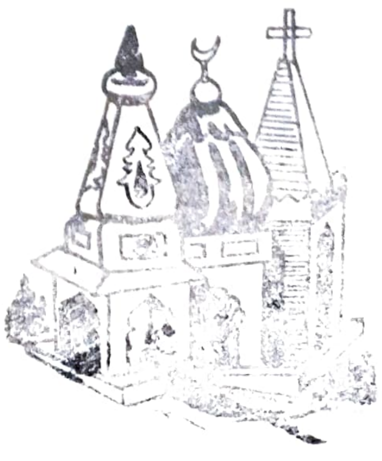

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के पास एक बार एक बहुत बड़े सेठ ने जाकर निवेदन किया— 'महाराज', हमने कई मंदिर बनवाये हैं, हमारा अधिक समय पूजा-पाठ में ही बीतता है। पर फिर भी हमारे मन में शान्ति नहीं पैदा होती ?"

स्वामी जी ने सेठ के चेहरे पर दृष्टि डाली, और उसे देखते ही देखते कहा, 'सच है, तुमने कई मन्दिर बनवाये हैं, और तुम पूजा-पाठ भी बहुत करते हो, पर क्या तुम उन्हें अपना स्नेह देते हो, जो तुम्हारी सेवा में अपना रक्त सुखाते हैं ! यदि नहीं तो अभी तुमने कुछ भी नहीं किया है।'

एक बार महात्मा ईसा से किसी ने प्रश्न किया—'प्रभो, ईश्वर को पाने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए ?'

ईसा ने उत्तर दिया—'यदि ईश्वर को पाना चाहते हो, तो सच्चे मन से 'ईश्वर में विश्वास' करो।'

वह ईसा के पास से उठकर जाने लगा। ईसा ने उसे रोक कर कहा—'तुमने 'ईश्वर में विश्वास' का अर्थ क्या समझा ? क्या तुम प्रतिदिन प्रार्थना करते हो ? और सबको अपना भाई समझते हो ?'

अब्राहिम लिंकन के नाम को कौन नहीं जानता ? वह अमेरिका में राष्ट्रपति के पद को सुशोभित कर चुके हैं।

एक बार अब्राहिम लिंकन युद्ध के किसी मोर्चे पर थे। रात में वे अपने खेमे से यह देखने के लिए बाहर निकले कि रात के अंधेरे में सैनिक अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं या नहीं। पर उन्हें यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि उनके खेमे का ही संतरी बेखबर सो रहा है। अब्राहिम लिंकन ने संतरी को बड़े प्रेम से जगाया और उसे 'कर्त्तव्य पालन' के लिए सावधान कर दिया।

युद्ध के मोर्चे पर यह खबर बिजली की तरह फैल गई। बड़े-बड़े सेनापतियों ने निवेदन किया कि उस संतरी को कर्त्तव्य की अवहेलना के अपराध का दंड दिया जाय। पर अब्राहिम लिंकन ने किसी की बात पर ध्यान न दिया और उसे क्षमा कर दिया।

कुछ दिनों बाद लिंकन को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि संतरी उस दिन रात में इसलिए ऊंघ रहा था कि उसे कई दिनों से अपनी बीमार माँ की सेवा में लगे रहने के कारण एक क्षण के लिए भी सोने का अवसर नहीं मिला था।

बगदाद में एक बहुत बड़े खलीफा उमर रहते थे। वे दिन-रात अपनी प्रजा की सेवा में तत्पर रहा करते थे। उन्होंने दूसरे राजकर्मचारियों की तरह अपना भी वेतन बांध रखा था। वे प्रतिदिन संध्या समय तीन 'दिरम' लेते और उसी से अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे।

एक बार ईद के अवसर पर खलीफा उमर की बेगम ने उनसे प्रार्थना की—'यदि आप तीन दिन का अपना वेतन खजाने से अग्रिम ले लें तो ईद पर बच्चों को नए कपड़े सिलवा दें!'

खलीफा उमर ने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया, 'बेगम, यदि मैं तीन दिनों तक जीवित न रहूं, तो प्रजा के इस ऋण को कौन चुकायेगा? तुम खुदा से मेरी जिन्दगी का तीन दिन का पट्टा ला दो, तो मैं खजाने से तीन दिन का अग्रिम वेतन लेकर तुम्हें दे सकता हूं।'

बेचारी बेगम 'खलीफा' के ईश्वर में अटूट विश्वास को देख कर मौन हो गई। उसे क्या मालूम था कि खलीफा का 'ईश्वर में विश्वास' उनकी जपमाला में नहीं, उनके न्याय में बसता है।

'ईश्वर में विश्वास' मनुष्य को ऐसे बड़े-बड़े काम करने की प्रेरणा देता है, जिन्हें करते हुए साधारण आदमी हिचकिचाते हैं—आनाकानी करते हैं। जिसके हृदय में ईश्वर के प्रति जितना ही अधिक विश्वास होता है, उसके द्वारा उतने ही अधिक सेवा और परोपकार के कार्यों की पूर्ति होती है।

★★★

गुरु के चरणों में

तुम अपने हृदय को टटोलकर देखो, क्या तुम्हारे हृदय में अपने गुरु के लिए प्रेम, श्रद्धा और आदर की भावना है जिनसे तुमने अक्षर-ज्ञान से लेकर, ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें सीखी हैं या सीखते हो। यदि तुम्हारे हृदय में गुरु के लिए सेवा, श्रद्धा या आदर की भावना है, तो निश्चय ही तुम अपने गुरु से उस ज्ञान को प्राप्त कर सकोगे, जिसके लिए प्रयत्न कर रहे हो !

गुरु को अध्यापक, मास्टर, टीचर आदि भी कहते हैं। क्या तुमने कभी इस बात को सोचा है कि तुमने जो कुछ पढ़ा या सीखा है उसकी जड़ में कौन है ? तुम्हारे गुरु ही तो हैं। तुम्हारे गुरु ने, तुम्हारे कल्याण के लिए अपने ज्ञान का भण्डार खोल दिया, और तुम उसमें से जितने रत्न निकाल सके, निकाल लिये। क्या तुम्हारे गुरु ने तुम्हें कभी मना किया ! कितने उदार होते हैं गुरु !

तुम अपने गुरु के पास जब भी गये होगे और जब भी उनसे ज्ञान का अमृत माँगा होगा, उन्होंने अवश्य, बिना तुमसे कुछ लिए तुम्हें तृप्त कर दिया होगा। क्या ऐसे उदार गुरु के लिए तुम्हारा अपना कुछ कर्त्तव्य नहीं है ? यदि तुम अपने गुरु के लिए और कुछ नहीं कर सकते, तो उनके लिए अपने मन में श्रद्धा और आदर की भावना तो रख ही सकते हो। विश्वास करो, यदि तुम अपने मन में अपने गुरु के लिए आदर और श्रद्धा की भावना रखो, तो तुम्हारे हृदय में 'ज्ञान' और 'सत् विचारों' के वे अंकुर शीघ्र उगेंगे, जिन्हें उगाने के लिए तुम्हारे मन में बेकली है।

यह सोचना ठीक नहीं होगा कि 'गुरु पूजा' और 'गुरु सेवा' की ये बातें निराधार हैं। नहीं, इसके प्रमाण हैं। एक नहीं, सैकड़ों। कुछ प्रमाण हम तुम्हारे सामने भी उपस्थित कर रहे हैं! इन प्रमाणों और दृष्टान्तों में यह देखो कि गुरु कितने महान् होते हैं और हमारे देश में लोग उनका कितना आदर-सम्मान करते थे।

'आरुणि' की गुरु भक्ति की कहानी भी बहुत ही अनूठी और चित्ताकर्षक है। 'आरुणि' एक ऋषि कुमार था। वह महर्षि आयोदधौम्य के आश्रम में रह कर, उनसे विद्या पढ़ता था। एक दिन वर्षा का समय था, दिन समाप्त होने पर था। महर्षि ने अपने शिष्यों की ओर देखकर कहा—'पानी बड़े वेग से बरस रहा है। यदि खेत का पानी मेड़ तोड़कर बाहर निकल गया तो फसल बिलकुल न होगी। फिर आश्रम का काम कैसे चलेगा?'

महर्षि ने अपनी बात समाप्त करके गहरी साँस ली। कुछ देर तक मौन रह-कर महर्षि ने अपने शिष्यों की ओर देखते हुए कहा—'क्या तुम में से कोई खेत की मेड़ को देखने के लिए इस समय जा सकता है?'

पर उस भयानक वर्षा में कोई भी बाहर जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। पर नहीं, उस भयानक वर्षा में भी गुरु की आज्ञा-पालन के लिए एक शिष्य उठकर खड़ा हुआ। वही तो 'आरुणि' था। आरुणि ने खेत की मेड़ पर जाकर देखा, मेड़ टूट गई है और खेत का सारा पानी निकला जा रहा है।

आरुणि पानी को रोकने के लिए मिट्टी के बड़े-बड़े लोंदे बनाकर मेड़ पर रखने लगा। पर जब तक वह मिट्टी का दूसरा लोंदा बनाने लगता पहला जल के तेज बहाव के कारण बह जाता। आरुणि ने बड़ा प्रयत्न किया, पर वह मेड़ को बाँध न सका।

आखिर 'आरुणि' स्वयं टूटी हुई मेड़ पर लेट गया। इस प्रकार उसने खेत के बहते हुए पानी को रोक लिया।

'आरुणि' खेत की मेड़ पर पड़ा रहा। एक तो वर्षा, दूसरे ठंडी हवा। 'आरुणि' का शरीर अकड़ गया और वह मूर्छित हो गया।

उधर जब 'आरुणि' आश्रम में लौट कर नहीं गया, तो गुरु को चिन्ता हुई। वे शिष्यों को साथ लेकर 'आरुणि' की खोज में निकले। उन्होंने जब खेत की टूटी हुई मेड़ पर 'आरुणि' को मूर्छितावस्था में लेटा देखा, तो वे तुरन्त समझ गए कि आरुणि ने खेत की टूटी हुई मेड़ पर स्वयं लेट कर बहते हुए पानी को रोका है।

महर्षि का हृदय स्नेह से भर गया। वे 'आरुणि' को उठाकर अपने आश्रम में ले आए। 'आरुणि' गुरु कृपा से चेत में ही नहीं आया, वरन् बहुत बड़ा विद्वान् बनकर युग-युगों से लिए अपना नाम उज्ज्वल कर गया।

बड़े-बड़े विद्वानों और बड़े-बड़े कवियों ने भी अपनी रचनाओं में 'आरुणि' की कीर्ति का गान किया है। जहाँ कहीं भी गुरु-भक्ति का दृष्टान्त देना होता है, लोग झट 'आरुणि' का नाम ले लेते हैं। यदि आज के शिष्य और छात्रगण 'आरुणि' के आदर्श को लेकर चलें तो क्या यह सच नहीं है कि हमारे देश के विद्यालय स्वर्ग की तरह सुखद बन जायेंगे।

क्या तुमने एकलव्य का नाम सुना है? एकलव्य की भी 'गुरु-भक्ति' बड़ी अनूठी और प्रेरणादायक है। एकलव्य एक भीलकुमार था। पर अपनी 'गुरु-भक्ति' से वह विद्वानों, संतों और बड़े-बड़े वीरों में पूज्य बन गया है। एकलव्य को हुए कई हजार वर्ष हो चुके हैं, पर अब भी लोग बड़ी श्रद्धा के साथ एकलव्य का नाम लेते हैं। और उसके प्रति प्रेम के पुष्प अर्पित करते हैं।

एक दिन एकलव्य पाण्डव और कौरव राजकुमारों के गुरु द्रोणाचार्य जी के समक्ष उपस्थित हुआ और उनसे निवेदन किया--'आचार्य, मैं भी आपसे बाण-विद्या सीखना चाहता हूं। कृपया मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।'

पर द्रोणाचार्य ने एकलव्य की प्रार्थना अस्वीकार कर दी और कहा--'मैं केवल राजकुमारों को ही बाण-विद्या की शिक्षा देता हूं। तुम मेरे शिष्य नहीं बन सकते। क्योंकि तुम एक भील बालक हो।'

पर एकलव्य निराश नहीं हुआ, वह द्रोणाचार्य को अपना गुरु मान चुका था और उसके हृदय में उनसे बाण-विद्या

सीखने की अतीव लगन थी। वह वन में जाकर द्रोणाचार्य जी की मिट्टी की मूर्ति बना कर उसी के सामने बाण-विद्या का अभ्यास करने लगा।

कुछ समय बाद एक दिन द्रोणाचार्य पाण्डव राजकुमारों के साथ वन-भ्रमण के लिए गए। उनके साथ एक कुत्ता भी था। संयोगवश कुत्ता साथ छोड़कर अलग हो गया और घूमता-घूमता उसी स्थान पर जा पहुंचा, जहाँ एकलव्य बाण-विद्या का अभ्यास कर रहा था।

कुत्ता एकलव्य को देखकर, रह-रह कर भौंकने लगा। कुत्ते के भौंकने से एकलव्य के बाण-संधान में बाधा उपस्थित होने लगी। एकलव्य ने ऐसी चतुराई से बाण मारकर, कुत्ते के मुंह को बाणों से भर दिया, कि कुत्ते को चोट भी नहीं लगी और उसका भौंकना भी बंद हो गया।

कुत्ता बाणों से भरे हुए मुंह को लेकर पीछे की ओर लौट पड़ा। द्रोणाचार्य और पाण्डव राजकुमारों ने जब कुत्ते को देखा, तब वे आश्चर्य-चकित हो गए और सोचने लगे कि इस वन में ऐसा कौन-सा वीर है; जिसने ऐसी चतुराई से कुत्ते का मुँह बाणों से भर दिया है कि उसे पीड़ा नहीं हो रही है, और उसका भौंकना भी बन्द हो गया है। द्रोणाचार्य पाण्डव राजकुमारों को साथ लेकर उस वीर की खोज करने लगे। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि, एक भील कुमार एक मिट्टी की मूर्ति के सामने बाण-विद्या का अभ्यास कर रहा है। द्रोणाचार्य को यह समझने में देर नहीं लगी कि, हो न हो, यही वह वीर है, जिसने कुत्ते के मुँह को चतुराई के साथ बाणों से भर दिया है।

द्रोणाचार्य ने प्रश्न किया—'क्या तुमने ही कुत्ते के मुँह को बाणों से भर कर, उसका भौंकना बन्द कर दिया है ?'

एकलव्य ने द्रोणाचार्य की ओर देखा ! अरे ये तो गुरु द्रोणाचार्य हैं ! एकलव्य का मस्तक नत हो गया। द्रोणाचार्य ने पुनः प्रश्न किया—'क्या तुम बता सकते हो कि, यह बाण-कौशल तुमने किससे सीखा है ?

एकलव्य ने मिट्टी की मूर्ति की ओर संकेत करते हुए कहा—'इनसे—गुरु द्रोणाचार्य से।'

और एकलव्य ने अपनी कहानी कहकर, गुरु द्रोणाचार्य के हृदय में वर्षों पुरानी स्मृति जगा दी। गुरु द्रोणाचार्य मन ही मन सोचने लगे कि पाण्डव राजकुमारों में ऐसा कोई भी नहीं है, जो इसके बाण-कौशल को छू सके। यदि इसका यह बाण-कौशल रहा, तो यह सबकी कीर्ति धूमिल कर देगा।

द्रोणाचार्य सोचते-ही-सोचते बोल उठे—'तुमने मुझे गुरु मानकर बाण-विद्या तो सीख ली, अब मेरी गुरु-दक्षिणा मुझे दो।'

एकलव्य प्रसन्नचित्त हो उठा, तत्क्षण बोल पड़ा—'आज्ञा कीजिये गुरुदेव ! गुरु-दक्षिणा में आप मुझसे क्या चाहते हैं ?

द्रोणाचार्य ने कुछ सोचकर कहा—'दाहिने हाथ का अंगूठा।'

'दाहिने हाथ का अँगूठा ! दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर दे देने से तो उसकी सारी बाण-विद्या ही व्यर्थ हो जायेगी। क्योंकि बाण-संधान का कौशल दाहिने हाथ के अँगूठे से ही तो पूरा किया जाता है।' एकलव्य सोचने लगा—चिन्ता में डूबकर सोचने लगा।

द्रोणाचार्य पुनः बोल उठे—'क्यों, असमंजस में पड़ गए ? क्या गुरु दक्षिणा में दाहिने हाथ का अँगूठा नहीं दे सकोगे ?'

एकलव्य ने द्रोणाचार्य को ओर देखा, और देखते-ही-देखते कहा—'असमंजस ! नहीं गुरुदेव, नहीं। आज मुझे गुरु-दक्षिणा देने का अनोखा अवसर मिला है। इस अवसर को मैं हाथ से नहीं जाने दूंगा !! लीजिए गुरुदेव, अपनी दक्षिणा लीजिए !'

और एकलव्य ने अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर द्रोणाचार्य को अर्पित कर दिया।

द्रोणाचार्य ने एकलव्य की पीठ ठोकी। क्या कोई है, इस धरती पर, जो एकलव्य की तरह अपने गुरु को गुरु-दक्षिणा दे सकता हो—गुरु की संतुष्टि के लिए अपना सब-कुछ चढ़ा सकता हो ! एकलव्य भील के वंश में जन्म लेने पर भी, अपनी गुरु-भक्ति से बड़े-बड़े राजकुमारों से ऊपर उठ गया। धन्य है भारत भूमि, जिसकी गोद में एकलव्य जैसे महान् गुरु-भक्त पैदा हो चुके हैं !

छत्रपति शिवाजी भी बड़े गुरु-भक्त थे। उनके गुरु का नाम समर्थ स्वामी रामदास था। एक बार स्वामी जी के पेट में तीव्र पीड़ा उत्पन्न हुई। संयोग की बात ! महाराज शिवाजी उसी समय गुरु-दर्शन के लिए उपस्थित हुए। गुरु के पेट की पीड़ा को देख कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने विनीत स्वर में पूछा—'महाराज है कोई ऐसा उपाय, जिससे आपके पेट का दर्द दूर हो सकता है ?

स्वामी रामदास जी कराहते हुए बोले—'हाँ है, क्या सिंहनी का दूध ला सकते हो !'

सिंहनी का दूध ! किसमें साहस है, अपने प्राणों पर खेलकर सिंहनी का दूध ला सके। पर गुरु-भक्त महाराज शिवाजी अपने गुरु की सेवा के लिए क्या नहीं कर सकते। वे पात्र लेकर, सिंहनी के दूध के लिए वन की ओर चल पड़े। रात का समय था। पानी बरस रहा था। अँधेरी रात में अपना हाथ भी पसारने पर नहीं दिखाई पड़ रहा था। पर महाराज शिवाजी, सिंहनी के दूध के लिए, कुश-काँटों को पैरों से दबाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। आखिर, उनकी 'गुरु-भक्ति' साकार हो उठी। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे खड़ी सिंहनी का दूध उस प्रकार दुहा, जिस प्रकार कोई किसी गाय का दूध दुहता है।

महाराज शिवाजी ने दूध लाकर, स्वामी जी को अर्पित किया। गुरु का हृदय, शिष्य की श्रद्धा और भक्ति को देखकर, स्नेह से छलछला उठा और उन्होंने अपने 'राम' से जो कुछ पाया था, वह सबका सब शिवाजी पर निछावर कर दिया। शिवाजी 'शिवाजी' बन गए—युग-युगों के लिए पूज्य बन गए।

क्या तुम भी आरुणि, एकलव्य और शिवाजी की तरह अपने गुरु के चरणों पर अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाते हो ? क्योंकि तुम भी उसी भारत में पैदा हुए हो, जहाँ आरुणि, एकलव्य और शिवाजी ने जन्म लिया था।

***

मातृ-भक्ति : पितृ-भक्ति

संसार में छोटे से छोटे मनुष्य से लेकर बड़े-से-बड़े महान् पुरुष भी माता-पिता के प्यार में पलते हैं, बड़े होते हैं और सूर्य की तरह चमकते हैं। तुम अपने ही 'जीवन' को ले लो। तुम जो कुछ बन सके हो, उसके मूल में तुम्हारे माता-पिता के ही स्नेह का अमृत है। यदि तुम्हारे माता-पिता, अपने हृदय को मथकर तुम्हारे लिए अमृत न निकालते, तो क्या यह मुस्कुराहट तुम्हारे ओठों पर खेल सकती, जो आज खेल रही है!

क्या तुमने कभी यह सोचा है कि, तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हारे लिए क्या किया है? शायद अभी तुम अपने माता-पिता के उन तप कष्टों का अनुभव नहीं कर सकते, जो उन्होंने तुम्हारे लिए झेले हैं। जब तुम स्वयं माता-पिता बनोगे, और अपने बच्चों के लिए कष्ट झेलोगे, तो उस समय तुम अवश्य अपने माता-पिता के महान् उपकारों को सोचोगे, पर उस समय सोचने से तुम्हारे हाथ कुछ भी न लगेगा। क्योंकि उस समय तुम्हारे माता-पिता का जीवन-बसेरा उजड़ चुका होगा! और तुम उनके उपकारों का मूल्य अपनी सेवाओं से नहीं, अपने पश्चात्ताप के आँसुओं से ही चुकाओगे

अच्छा तो यही है कि, तुम अभी से अपने माता-पिता के उपकारों को समझो, अपनी सेवाओं से उनके स्नेह का मूल्य चुकाने में संलग्न हो जाओ।

भगवान् श्रीकृष्ण का नाम तुमने अवश्य सुना होगा ! सुना ही नहीं, तुम मन्दिरों में जाकर श्रद्धा से उनकी मूर्तियों के दर्शन भी करते होंगे। पर क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि, माता-पिता के प्रति वे क्या कह गए हैं ? देखो— यदि कोई मनुष्य सौ वर्ष तक जीकर माता-पिता की सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। हमारे देश के ऋषियों-मुनियों ने माता-पिता को 'ईश्वर' के समान ही ऊँचा बताया है। अतः पुत्र को चाहिए कि अपने माता-पिता की सेवा में अपने को मिटा दे।

यह कल्पना नहीं, सच है। हम यहाँ तुम्हारे सामने दृष्टांत रूप में ऐसी कथाएँ उपस्थित कर रहे हैं, जिनमें तुम यह देखोगे कि, संसार के महान् से महान् लोग भी माता-पिता के चरणों के पास किस तरह विनीत बन कर झुकते रहे हैं।

सुकर्मा अपनी मातृ-पितृ भक्ति से ही इतना महान बन गया था कि, उसकी महानता को बड़े-बड़े ऋषि और मुनि तक स्पर्श नहीं कर सकते थे। सुकर्मा ने कभी पूजा-पाठ, तीर्थाटन, और जप तथा योग की साधना नहीं की, पर वह अपने माता-पिता की सेवा दिन-रात बड़ी श्रद्धा से करता था। माता-पिता की सेवा से ही वह इतना महान् और पवित्र बन गया था कि, उसके आगे 'पिप्पल' जैसे बहुत बड़े तपस्वी का गर्व भी चूर्ण हो गया।

'पिप्पल' बहुत बड़े तपस्वी थे। उन्होंने इतने दिनों तक तप किया कि, उनके शरीर पर दीमकों ने अपना घर बना लिया था और उनके शरीर से प्रतिक्षण दिव्य ज्योति निकलने लगी थी। उनकी तपस्या पर प्रसन्न होकर देवताओं ने उन्हें आशीर्वाद दिया था कि, वे जिस किसी के बारे में सोचेंगे, वह उनके वश में हो जाएगा।

'पिप्पल' मन ही मन अपनी सिद्धि पर गर्वित हो उठे। आखिर एक दिन, ब्रह्मा जी उनके गर्व को चूर्ण करने के लिए सारस के रूप में उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'पिप्पल तुम व्यर्थ ही गर्व करते हो। तुम्हारी सिद्धि सुकर्मा की पितृ-भक्ति के समक्ष कुछ भी नहीं !'

'पिप्पल' के मन में कुतूहल हुआ और वे सुकर्मा के आश्रम, कुरुक्षेत्र जा पहुँचे। उन्होंने 'सुकर्मा' के आश्रम में रहकर उसकी गति-विधि देखी। वह पूजा पाठ, जप, योग और तप आदि कुछ भी नहीं करता था। पर वह दिन-रात अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा बड़े प्रेम से करता था।

पिप्पल ने प्रश्न किया, 'महामुने सुकर्मा, आप जप, तप, योग आदि कुछ भी नहीं करते। आप ऐसा कौन-सा महान् कार्य करते हैं, जिससे विवश होकर ब्रह्मा जी को भी आपकी प्रशंसा करनी पड़ी।'

सुकर्मा ने उत्तर दिया—'वह कार्य है माता-पिता की सेवा। पुत्र के लिए माता-पिता की सेवा से बढ़कर न कोई जप है, न कोई योग है, और न कोई तीर्थ है। माता-पिता इस लोक में तथा परलोक में भी साक्षात् नारायण के समान हैं। जो माता-पिता का आदर नहीं करता, उसके सभी शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।'

पिप्पल का मस्तक झुक गया। भारत का कल्याण सुकर्मा और पिप्पल ऐसे चरित्र-निष्ठ पुत्रों से ही हो सकता है। यदि घर-घर में ऐसे पुत्र जन्म ले लें तो, घरों के साथ समाज और समूचा राष्ट्र भी स्वर्ग बन जाय!

श्रवणकुमार की मातृ-पितृ भक्ति की कथा किसे ज्ञात नहीं है? श्रवणकुमार अपनी मातृ-पितृ भक्ति से ही संसार में अमर हो गए। अब तक उनका नाम कितनी कथाओं में, और कितनी पुस्तकों में आ चुका है। श्रवणकुमार को हुए युगों बीत गए हैं, पर अब भी लोग उनकी चर्चा बड़ी श्रद्धा से करते हैं।

श्रवणकुमार के माता-पिता अन्धे और बूढ़े थे। उनकी इच्छा तीर्थाटन की हुई! बस क्या था! श्रवणकुमार कांवर पर अपने माता-पिता को बिठाकर, कांवर कन्धे पर रखकर तीर्थाटन के लिए निकल पड़े। कहा जाता है कि वे पैदल चलकर, भयानक से भयानक कष्ट झेलकर अपने माता-पिता को सभी तीर्थों में ले गए। अन्त में, वे यात्रा

में ही, जब अपने घर लौट रहे थे, धोखे से महाराज दशरथ के बाण के शिकार हो गए। उनके माता-पिता ने भी उनके वियोग में तड़प-तड़प कर अपने प्राण तज दिये।

धन्य श्रवणकुमार, जिन्होंने अपने माता-पिता की इच्छा की पूर्ति के लिए असहनीय कष्टों को भी सहन किया। शायद ही भूमंडल पर खोजने पर भी किसी देश में श्रवणकुमार की बराबरी करने वाला कोई दूसरा मातृ-पितृ सेवी पुत्र मिल सके।

देवव्रत भी अपनी मातृ-पितृ भक्ति से ही संसार में अमर बन सके हैं। उनका नाम इसलिए 'भीष्म' है कि, उन्होंने अपने पिता की इच्छा को रखने के लिए ही, जीवनभर विवाह न करने की कठिन प्रतिज्ञा की थी। कौन ऐसा पुत्र है जो अपने पिता की प्रसन्नता के लिए अपनी इच्छाओं की बलि चढ़ा देगा? पर वह पुत्र भीष्म थे।

केवल प्राचीनकाल में ही नहीं, आधुनिक काल में भी कितने ही ऐसे महान् पुरुष हो चुके हैं, जिनके चरित्रों में माता-पिता की सेवा की अमर कहानियाँ मिलती हैं। महाराज शिवाजी अपनी माँ के अनन्य भक्त थे। वे अपनी माँ की इच्छाओं की पूर्ति के लिए काल से भी युद्ध करने में संकोच नहीं करते थे। महादेव गोविन्द रानाडे, अपनी माँ के गुणगान करते हुए तृप्त नहीं होते थे। महात्मा गांधी का कहना है कि, यदि उनके मन में माता-पिता के प्रति भक्ति न होती तो वे इतने महान् नहीं बन सकते थे। स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री जी भी अपनी मां के प्रति अधिक श्रद्धालु थे।

यदि तुम भी अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धालु बनो, तो निश्चय ही तुम भी अपने यश की लकीर खींच जाओगे, जो कभी न मिटेगी—कभी न मिटेगी।

★★★

भाई से भाई का प्रेम

तुम अपने हृदय को टटोल-कर देखो, क्या तुम्हारे हृदय में अपने भाई के लिए प्रेम है ? भाई का भाई के लिए प्रेम सचमुच यह बड़ी और अमूल्य बात है, अगर तुम्हारे हृदय में भाई के प्रेम की सुगंध है; तो निश्चय मानो, तुम अपने जीवन की बाधाओं को जीत लोगे जो तुम्हें आगे बढ़ने से रोक रही हैं।

हो सकता है, तुम्हारा भाई तुम्हें हृदय का प्रेम न देता हो, वह तुमसे द्वेष करता हो, और तुम्हारे जीवन के रास्ते में काँटे बिखेर रहा हो, पर फिर भी तुम्हें तो उसे अपने हृदय का प्रेम देना ही चाहिए। इसलिए देना चाहिए कि, तुम्हें अपने जीवन के साथ ही अपने कुटुम्ब और अपने समूचे घर को भी हँसता-मुस्कुराता हुआ देखना है। यह तुम्हारा भाई है। यदि तुम उसे अपने प्रेम का अमृत न दोगे, तो फिर कौन देगा !

तुम्हारे मन में इस बात के लिए गहरी कचोटें उठा करती हैं कि तुम्हारा अपना कोई मित्र नहीं है ? मैं कहता हूं तुम्हारा भाई तुम्हारा सबसे बड़ा मित्र है। तुम्हें संसार में दूसरे लोग तो मित्र के रूप में हजारों मिल सकते हैं, पर भाई रूपी मित्र तो कहीं खोजने पर भी न मिलेगा। क्या तुमने रामायण पढ़ी है ? गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी तो रामायण में यही लिखा है—'मित्रहि न जगत् में सहोदर भ्राता।'

तुमने श्रीरामचन्द्र जी का नाम अवश्य सुना होगा। उनके भाई का नाम भरत था। भरत ने बंधु-प्रेम का ऐसा दृष्टांत उपस्थित किया था कि लोग अब भी कहते हैं कि, यदि भाई हो तो भरत जैसा। श्रीराम और भरत अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र थे। श्रीराम के भरत के अतिरिक्त दो और भाई थे—लक्ष्मण और शत्रुघ्न। चारों भाइयों में परस्पर बड़ा ही प्रेम था।

ईश्वर की इच्छा! महाराज दशरथ को लाचार होकर श्रीराम को वनवास देना पड़ा। श्रीराम जब वन को चले गए, तब दशरथ जी ने उनके वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण तज दिए। भरत जी उस समय ननिहाल में थे। भरत जी जब लौटकर आए, और उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके बड़े भाई राम वन को चले गए हैं, तब वे बड़े दुखी हुए। उनके गुरु और मंत्रियों ने उन्हें सलाह दी कि, वे अब राज-काज संभालें, पर वे तैयार न हुए। वे अयोध्या के श्रेष्ठ नागरिकों को साथ लेकर, पैदल ही नंगे पैर, श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिए वन की ओर चल दिए।

आखिर चित्रकूट में भरत और श्रीरामचन्द्र जी का मिलन हुआ। भरत ने श्रीरामचन्द्र जी से बहुत विनय और प्रार्थना की कि, वे अयोध्या लौट चलें! पर श्रीरामचन्द्र जी लौटने के लिए तैयार न हुए। क्योंकि, उनका महान् धर्म उन्हें वन जाने के लिए ही प्रेरणा दे रहा था।

आखिर जब भरत जी विवश हो गए, तो वे श्रीरामचन्द्रजी की चरण पादुका लेकर अयोध्या लौट गए। जब तक श्रीरामचन्द्र जी वन से लौट कर नहीं आ गए, भरत जी नगर से दूर एक कुटी में रहकर 'चरण-पादुका' की पूजा के सहारे अपना जीवन बिताते रहे।

क्या भरतजी जैसा भाई आज जगत् में कहीं खोजने पर भी मिल सकेगा? आज जब लोग एक-एक बालिश्त धरती के लिए अपने भाइयों का गला घोंट रहे हैं, भरतजी ने अयोध्या के बहुत बड़े साम्राज्य के सुखों और वैभवों का, अपने भाई के लिए परित्याग कर दिया था।

धर्मराज युधिष्ठिर ने भी धरती पर 'बंधु प्रेम' की शीतल और पवित्र गंगा बहाई है। पाण्डव पाँच भाई थे–युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। युधिष्ठिर सबसे बड़े थे। युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा थे। इसलिए लोग उन्हें 'धर्मराज' भी कहते थे।

समय के चक्र के कारण पाण्डवों को 'वनवास' जाना पड़ा और वनवास में रहते हुए पाण्डव घूमते-घूमते द्वैत वन में जा पहुँचे। धूप तीव्र थी। प्यास के कारण सबका कंठ सूखने लगा। पानी की खोज की जाने लगी। युधिष्ठिर ने एक वृक्ष पर चढ़कर देखा—'दूर पर हरियाली और उड़ते हुए पक्षी।' युधिष्ठिर ने सोचा, अवश्य वहाँ कोई सरोवर या नदी होगी! युधिष्ठिर ने नकुल को आदेश दिया कि, वह जाकर पानी ले आये।

नकुल ने जाकर देखा, स्वच्छ जल से भरा हुआ सरोवर। नकुल का प्यास के कारण कंठ सूखा जा रहा था। वे पानी पीने की सोच ही रहे थे कि, कोई बोल उठा—'खबरदार! सरोवर के जल को पीने का यत्न न करो। सरोवर पर मेरा अधिकार है। यदि जल पीना चाहते हो तो जल पीने से पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर देना होगा।'

नकुल ने आश्चर्यचकित होकर देखा। एक वृक्ष पर एक बगुला बैठा था और वही बोल रहा था। वास्तव में वह बगुला नहीं, एक यक्ष था। पर नकुल ने उसकी बात पर ध्यान न दिया। वे पानी पीने के लिए झुके ही थे कि अचेत होकर गिर पड़े।

जब नकुल लौटकर नहीं गए और बड़ी देर हो गई, तब युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव का भी वही हाल हुआ, जो नकुल का हुआ था। युधिष्ठिर ने फिर अर्जुन और उसके बाद भीम को भेजा। पर अर्जुन और भीम का भी वही हाल हुआ, जो नकुल और सहदेव का हुआ था।

आखिर युधिष्ठिर स्वयं सरोवर के तट पर गए। उन्होंने जब अपने चारों भाइयों को मृत-अवस्था में सरोवर के तट पर पड़े हुए देखा, तो उन्हें बड़ा दुख हुआ।

पर उन्हें भी तो प्यास लगी हुई थी ! वे भी जब पानी पीने के लिए सरोवर में झुके, तो उन्हें भी यक्ष की आवाज सुनाई पड़ी।

युधिष्ठिर ने यक्ष की ओर देखा और देखते-ही-देखते कहा—'ठीक है, यदि तुम्हारा सरोवर के जल पर अधिकार है, तो मैं जल तभी पीऊँगा, जब तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दे दूंगा। तुम प्रश्न करो।'

यक्ष ने एक-एक करके कई प्रश्न किए। युधिष्ठिर ने उसके सभी प्रश्नों के उत्तर दे दिए। यक्ष बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'अब तुम जल पी सकते हो और अपने भाइयों में से जिस एक को चाहो, उसे मैं जीवित कर सकता हूं।'

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'अच्छा तो, मेरे छोटे भाई नकुल को जीवित कर दीजिये।'

यक्ष ने कहा—'तुम्हारी बुद्धि तो नष्ट नहीं हो गई है ! तुम वन में चारों ओर मारे-मारे फिर रहे हो। पग-पग पर शत्रुओं का भी तुम्हें भय है और अभी तुम्हें शत्रुओं से भयंकर संग्राम भी करना है ! भला नकुल तुम्हारी क्या सहायता कर सकेगा ? यदि तुम जीवित ही करवाना चाहते हो तो अपने भाई भीम या अर्जुन को जिलाने के लिए क्यों नहीं कहते ? वे महान् प्रतापी और पराक्रमी हैं।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'मेरी दो माताएँ हैं—कुन्ती और माद्री। कुन्ती का तो मैं मौजूद हूँ पर माद्री का भी तो एक पुत्र जीवित रहना चाहिए। इसीलिये मैंने नकुल को जीवन-दान देने की प्रार्थना की है।'

यक्ष युधिष्ठर के बंधु और धर्म-प्रेम पर विह्वल हो उठा। उसने युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा—'युधिष्ठिर, तुम धन्य हो। मैं तुम्हारी बंधु और धर्म-निष्ठा पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सभी भाइयों को जीवित किये दे रहा हूँ। मैं यक्ष नहीं, स्वयं धर्म हूँ—तुम्हारा पिता !'

युधिष्ठिर के चारों भाई जीवित हो गये। जब तक घर-घर में भरत और युधिष्ठिर पैदा न होंगे, समाज का दुख-दारिद्र्य न मिटेगा, न मिटेगा !

***

प्रीति-पूर्ण मित्रता

तुम्हारे कुटुम्ब में नाते-रिश्ते के बहुत से लोग हैं; और वे तुम्हें प्रेम भी करते हैं, पर फिर भी तुम्हारे मन को सन्तोष नहीं होता। तुम अपने घर के नाते-रिश्तों की सीमा से दूर एक आदमी की खोज में बेकल रहते हो, जिसे तुम अपना 'मन' दे सको, और जो हर मुसीबत की घड़ी में तुम्हारा साथ दे सके। यही तो है तुम्हारा वह मित्र, जिसे पाने पर तुम्हारे मन की बेकली दूर हो जायगी।

वह आदमी, जो तुम्हारा मित्र है, या जिसे तुम अपना मित्र बनाना चाहते हो, तुम्हारे घर का नहीं है, तुम्हारे घर के नाते-रिश्ते से दूर, बहुत दूर का आदमी है। इससे तुमको यह समझना चाहिये कि तुम उस आदमी को अपना 'मित्र' बनाकर केवल अपना ही नहीं, अपने समाज का भी कल्याण कर रहे हो। यदि तुम्हारी ही भांति 'समाज' के सभी लोग एक-दूसरे को अपना मित्र बनाने लगें, तो क्या यह सच नहीं है कि, पूरे का पूरा समाज 'मित्र समाज' बन जाय। इसीलिए तो एक बहुत बड़े विद्वान् ने कहा है कि 'मित्रता' समाज का एक बहुत बड़ा गुण है। जिस समाज में लोग एक-दूसरे के अच्छे और सच्चे मित्र बनते हैं, उस समाज को उन्नति की मंजिल पर पहुँचने से कौन रोक सकता है ?

तुमने श्रीकृष्ण भगवान् का नाम अवश्य सुना होगा। श्रीकृष्ण और अर्जुन बड़ी मैत्री थी। एक बार श्रीकृष्ण को जब इन्द्र से 'वर' मांगने का अवसर मिला, तो

उन्होंने इन्द्र से और कुछ न माँगकर केवल यही माँगा था—'अर्जुन के साथ मेरा प्रेम बढ़ता रहे, दिनों-दिन बढ़ता रहे।'

इससे तुम समझ सकते हो कि श्रीकृष्ण के मन में अर्जुन के प्रति कैसी प्रीति थी? उन्होंने अर्जुन के लिए क्या-क्या नहीं किया? श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए उसके रथ को हाँका, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लोगों के पैर तक धोए, और अर्जुन के लिए ही उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर रथ के पहिये को शस्त्र के रूप में धारण किया था। तुम अपने हृदय के भीतर झाँक कर देखो, क्या तुम्हारे हृदय में भी अपने मित्र के लिए ऐसी प्रीति है।

अर्जुन का प्रेम भी श्रीकृष्ण के प्रति अटूट था। महाभारत की लड़ाई की नींव पड़ चुकी थी। पाण्डवों की ओर से अर्जुन और कौरवों की ओर दुर्योधन—दोनों एक साथ श्रीकृष्ण से सहायता प्राप्त करने के लिए पहुँचे। श्रीकृष्ण ने अपनी सहायता के दो भाग किए—'एक भाग में अपनी कई अक्षौहिणी सशस्त्र सेना, और दूसरे भाग में वे स्वयं अकेले, और वह भी बिना शस्त्र के। दुर्योधन ने तो श्रीकृष्ण की सशस्त्र सेना ली, पर अर्जुन ने 'श्रीकृष्ण' को ही लेकर संतोष प्रकट किया। जानते हो क्यों? इसलिए कि, अर्जुन के मन में सच्ची निष्ठा और प्रीति थी। अर्जुन ने अपनी निष्ठा और प्रीति से ही श्रीकृष्ण को विमोहित कर लिया था। यदि तुम भी अपने मित्र के मन को विमुग्ध करना चाहते हो तो उसका मेल तुम्हें अर्जुन के चरित्र में ही खोजना होगा।

कर्ण की मित्रता की कथा भी बड़ी प्रेरणाप्रद है। कर्ण पाण्डवों की माता कुन्ती का ही पुत्र था। कुन्ती जब कुमारी थी, तो उसने मंत्र से सूर्य देवता का आह्वान किया था। सूर्य देवता के आशीर्वाद से, कुमारी अवस्था में कर्ण ने कुन्ती के गर्भ से जन्म लिया था। कुन्ती ने लोक-लाज के भय से उसे एक सन्दूक में बंद करके बहा दिया था। सन्दूक एक सूत के हाथ में लगा। सूत ने ही कर्ण का लालन-पालन किया। किन्तु जब कर्ण बड़ा हुआ, तो वह कौरवों के राजदरबार में पहुँचा, और अपने गुणों तथा वीरता के कारण दुर्योधन का कृपा-पात्र बन गया। दुर्योधन ने कर्ण को अंगदेश का राजा बनाकर, अपनी और उसकी मित्रता सुदृढ़ कर ली।

महाभारत के युद्ध का शंख बजने ही वाला था। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर, शान्ति के लिए कौरवों के राजदरबार में हस्तिनापुर पहुँचे। उन्होंने दुर्योधन को समझाते हुए कहा—'यदि पाण्डवों को जीवन-निर्वाह के लिए पाँच गांव ही मिल जायँ, तो यह भड़कने वाली युद्धाग्नि शान्त हो सकती है। पर दुर्योधन ने कोरा उत्तर दिया कि 'पाँच गाँव तो बहुत होते हैं। पाण्डवों को बिना युद्ध के सुई की नोक के बराबर भी धरती प्राप्त नहीं हो सकती।'

भगवान् श्रीकृष्ण निराश होकर लौटने लगे। उन्हें बिदा करने के लिए कौरव-दल के बड़े-बड़े शूरवीर उनके साथ कुछ दूर तक गए। उनमें कर्ण भी था। श्रीकृष्ण ने सबको विदा करके कर्ण को अपने रथ पर बिठा लिया और उससे बोले, 'कर्ण, तुम वीर हो, धर्मात्मा हो, और समझदार भी हो। मैं तुम्हें एक बहुत ही गुप्त बात बता रहा हूँ। तुम सूत के पुत्र नहीं, पाण्डवों के समान ही कुन्ती-पुत्र हो। भगवान् सूर्य तुम्हारे पिता हैं। फिर तुम पाण्डवों के विरुद्ध दुर्योधन की ओर से युद्ध क्यों कर रहे हो ? पाण्डव तो तुम्हारे भाई हैं। फिर दुर्योधन अन्यायी है। युद्ध में अन्यायी का साथ देना अधर्म है।'

कर्ण ने उत्तर दिया—'मुझे मालूम है, मैं कुन्ती पुत्र हूँ, और इस रूप में पाण्डव मेरे भाई हैं। पर दुर्योधन मेरा मित्र है। उसने मेरी वीरता के भरोसे इस युद्ध की नींव रखी है। शान्ति और सुख के दिनों में तो मैं दुर्योधन के साथ रहा और इस संकट के समय में मैं उसका साथ छोड़ दूं, तो मेरी समझ में यह सबसे बड़ा अधर्म होगा।'

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ देने के लिए कर्ण को बहुत समझाया, पर कर्ण ने अपनी मित्रता के लिए, श्रीकृष्ण की बात को अस्वीकार कर दिया। युद्ध आरंभ होने के पहले कुन्ती भी एक बार कर्ण के पास गई, और उसने कर्ण को बहुत समझाया कि, वह दुर्योधन का साथ छोड़ दे। पर कर्ण ने कुन्ती को भी यह कहकर निरुत्तर कर दिया कि, वह संकट के समय अपने मित्र दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ सकता।

वस्तुतः मित्र हो तो कर्ण सरीखा। यदि मित्र होकर संकट के समय साथ छोड़ दे, तो वह मित्र कैसा ? कर्ण यदि चाहता तो बड़ी सरलता से दुर्योधन का साथ छोड़कर राज्य-सुख, और वैभव प्राप्त कर सकता था, पर कर्ण ने अपनी मित्रता की वेदी पर अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। धन्य था कर्ण यह धरती कर्ण जैसे मित्रों की ही सचाई के सूत्र में बंधी हुई है।

श्रीकृष्ण और सुदामा की मित्रता की कहानी को कौन नहीं जानता ! श्रीकृष्ण एक राजा के बालक थे, पर सुदामा थे दीन-हीन ब्राह्मण के बेटे। दोनों संदीपनि मुनि के आश्रम में एक साथ पढ़ते थे। दोनों की गाढ़ी मित्रता थी। वे साथ-ही-साथ रहते, खाते-पीते और पढ़ा करते थे। गुरु के आश्रम से निकलने पर दोनों अपने-अपने कार्य में लग गए। श्रीकृष्ण द्वारका के राजा हुए, पर सुदामा के गरीब के गरीब रह गए।

आखिर बहुत दिनों के बाद जब गरीबी सुदामा जी को बहुत दुख देने लगी, तब वे एक दिन, अपनी स्त्री के कहने से, सहायता के लिये श्रीकृष्ण के पास जा पहुँचे। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जब श्रीकृष्ण को अपने द्वारपाल से सुदामा जी के आने की खबर मिली, तो वे राजसिंहासन से उठकर, स्वयं द्वार पर गए और सुदामा जी को बड़े आदर से अपने राजभवन में ले गए उन्होंने सुदामा जी को धन और वैभव ही नहीं दिया वरन् उनके पैरों को अपने हाथों से धोकर सदा-सदा के लिए अपनी मित्रता की अमिट रेखा खींच दी। कहाँ भगवान श्रीकृष्ण और कहाँ गरीब ब्राह्मण सुदामा ! पर दोनों के बीच में मैत्री थी। मैत्री धन और पद नहीं देखती, देखती है हृदय की सच्ची प्रीति।

हंस-श्रेष्ठ सुमुख की प्रीति-पूर्ण मित्रता की कहानी भी बड़ी प्रेरणादायक है। हिष्म राष्ट्र में एक सुन्दर सरोवर था ! सरोवर कमलों से सुशोभित था। एक दिन सरोवर पर हंसों का एक दल विहार के लिए उतरा। संयोग की बात, एक व्याध ने पहले से ही वहाँ जाल बिछा रखा था। हंसों का राजा जाल में फँस गया।

दूसरे हंस सरोवर में विहार करने में संलग्न थे। हंसों का राजा चुपचाप जाल में पड़ा रहा। उसने शोरगुल इसलिए नहीं किया कि, विहार में संलग्न हंसों के आनन्द में बाधा उपस्थित होगी। जब सायंकाल हुआ, और सभी हंस चलने को उद्यत हुए, तो हंसराज ने उन्हें यह बताया कि, वह उनके साथ लौटकर न जा सकेगा; क्योंकि वह व्याध के जाल में फँस गया है।

सभी हंस भयभीत हो उठे, और हंसराज को छोड़कर चले गए। पर सुमुख नहीं गया। हंसराज ने कहा—सुमुख तुम भी शीघ्र ही भाग जाओ। क्योंकि अब व्याध आता ही होगा ! वह तुम्हें देखेगा, तो तुम्हें भी अपने जाल में फँसा लेगा। 'तुम क्यों इस प्रकार व्यर्थ अपने प्राण गँवाते हो ?'

सुमुख ने उत्तर दिया—'मैंने तुम्हारे साथ जीवन के अच्छे दिन बिताये हैं। आज जब तुम संकट में फँसे हो मैं तुम्हारा साथ कैसे छोड़ सकता हूँ ? भले ही मुझे अपना प्राण गंवाना पड़े, पर मैं विपत्ति की इस घड़ी में तुमसे पृथक नहीं हो सकता।'

सुमुख वहीं बैठा रहा। व्याध जब आया, तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि, जाल के पास एक स्वतंत्र हंस भी बैठा है और उड़ने का नाम नहीं ले रहा है।

व्याध ने हंस से पूछा—'भाई, तुम कौन हो, और यहाँ किसलिए बैठे हो ?'

सुमुख ने उत्तर दिया—'मैं उस हंस का मित्र हूँ, जिसको तुमने जाल में फँसा रखा है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे भी अपने जाल में फँसा लो। मैं अपने मित्र के साथ ही मरना चाहता हूँ।'

सुमुख की मित्र के प्रति सच्ची प्रीति ने व्याध को द्रवित कर दिया। उसने हंसराज और सुमुख—दोनों को छोड़ते हुए कहा—'कौन है, जो तुम दोनों की प्रीति को तोड़ने का साहस करेगा। तुम दोनों जहाँ भी रहोगे, अपने ही लिए नहीं, दूसरों के लिए भी स्वर्ग बनाओगे।' सचमुच प्रीतिपूर्ण मित्रता समाज में स्वर्ग की रचना करती है। आओ, हम सब भी प्रीतिपूर्ण मित्रता के तारों में बँधकर अपने जीवन के साथ ही अपने समाज और देश को भी सुन्दर बनाएँ। क्योंकि यही हमारे धर्म और हमारी संस्कृति का लक्ष्य है।

★★★

सुन्दर आतिथ्य

अतिथि की सेवा को 'आतिथ्य' कहते हैं। तुम्हारे घर पर तुम्हारा परिचित या अपरिचित जो कोई भी कुछ समय या एक-दो दिन के लिए रहने के उद्देश्य से आ जाता है, या रात में तुम्हारे घर आश्रय लेता है, वह तुम्हारा अतिथि होता है।

क्या तुम बता सकते हो कि, यदि तुम्हारे घर पर कोई 'अतिथि' के रूप में आ जाय, तो तुम उसका सेवा-सत्कार किस प्रकार करोगे ? अतिथि तो पराया होता है । पर तुम्हें यह जानना चाहिए कि तुम्हारी अतिथि-सेवा में ही तुम्हारी मनुष्यता, तुम्हारे धर्म की ऊँचाई और तुम्हारे राष्ट्र की गरिमा छिपी हुई है ।

क्या तुमने महर्षि मुद्गल का नाम सुना है ? महर्षि मुद्गल एक बहुत बड़े ऋषि हो चुके हैं, जो कुरुक्षेत्र में रहते थे। युगों बीत गए हैं, पर महर्षि मुद्गल का नाम, आज भी उनकी अतिथि-सेवा से अमर हैं। तुम्हें भी, अतिथि-सेवा का पाठ महर्षि मुद्गल के चरित्र से ही सीखना चाहिए ।

महर्षि मुद्गल कुरुक्षेत्र में झोंपड़ी बनाकर, अपने कुटुम्ब के साथ रहते थे। वे कटे हुए अनाज के खेतों में गिरे हुए अनाज के दानों को, बीनकर जीवन निर्वाह करते थे। वह महीने में केवल दो बार—अमावस्या और पूर्णिमा को ही भोजन करते थे और

भोजन करने से पहले अतिथियों और साधु-सन्तों को भोजन देना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

पूर्णिमा का दिन था। महर्षि मुद्गल भोजन करने के लिए बैठे ही थे कि दुर्वासा वेश बदलकर अतिथि के रूप में आ पहुंचे। बोले—भूख से मरा जा रहा हूँ। कृपया मुझे भोजन दीजिये।'

महर्षि मुद्गल ने अपना सारा का सारा भोजन दुर्वासा को दे दिया और वे स्वयं भूखे ही रह गए। पन्द्रह दिनों के बाद जब अमावस्या आई, और महर्षि मुद्गल अपने नियम के अनुसार भोजन क ने के लिए बैठे, तो फिर दुर्वासा मुनि जा पहुँचे, और अपने पेट को दिखाकर बोले—'भूख से मरा जा रहा हूँ। कृपया मुझे भोजन दीजिए।'

महर्षि मुद्गल ने पुनः अपना सारा का सारा भोजन दुर्वासा को दे दिया और वे स्वयं भूखे ही रह गए। इसी प्रकार दुर्वासा मुनि तीन महीने तक लगातार, भोजन के समय महर्षि मुद्गल के पास पहुँचते रहे और उन्हें अपना पेट दिखाकर उनका सारा का सारा भोजन लेते रहे। महर्षि मुद्गल ने तीन महीने निराहार ही बिता दिए। फिर भी उनके मन में दुर्वासा के लिए न क्षोभ और न क्रोध। आखिर, महर्षि मुद्गल की अतिथि-सेवा पर, दुर्वासा मुनि ही नहीं, स्वर्ग में देवता भी रीझ उठे। देवदूत विमान लेकर महर्षि मुद्गल के समक्ष उपस्थित हुए और उनसे प्रार्थना की कि, वे विमान पर सवार होकर स्वर्ग चलें! पर महर्षि मुद्गल ने स्वर्ग जाना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'वे धरती पर रहकर अतिथि-सेवा में ही अपना जीवन बितायेंगे, और अपनी अतिथि-सेवा से धरती पर ही स्वर्ग बसायेंगे।'

धन्य थे महर्षि मुद्गल, जिन्होंने अतिथि-सेवा पर स्वर्ग के सुखों को भी निछावर कर दिया। तुम अपने हृदय को टटोलकर देखो, क्या तुम्हारे हृदय में भी अपने अतिथि के लिए महर्षि मुद्गल की सी सेवा-भावना है।

महाराज मयूरध्वज की आतिथ्य कहानी भी बड़ी प्रेरक और बड़ी प्राणप्रद है। महाभारत की लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ में संलग्न थे। यज्ञ का अश्व छोड़ा जा चुका था, जिसकी रक्षा अर्जुन आदि वीर कर रहे थे। अश्व घूमते-घूमते मयूरध्वज के राज्य में जा पहुँचा। मयूरध्वज के राजकुमार ताम्रध्वज ने अश्व को पकड़ लिया। अर्जुन और ताम्रध्वज में संग्राम छिड़ गया पर अर्जुन को मुंह की खानी पड़ी।

अर्जुन के साथ ही श्रीकृष्ण भगवान् भी थे। अर्जुन को इस बात का बड़ा दुख हुआ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण के रहते हुए भी ताम्रध्वज से हार गए। श्रीकृष्ण ने कहा—'ताम्रध्वज मयूरध्वज का पुत्र है, जो बड़ा धर्मात्मा है।'

पर अर्जुन को विश्वास न हुआ। क्योंकि उन्हें इस बात का बड़ा गर्व था कि, उनके भाई महाराज युधिष्ठिर ही सबसे बड़े धर्मात्मा हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन के गर्व को नष्ट करने के लिए, वेश बदलकर अतिथि के रूप में मयूरध्वज के पास पहुँचे। साथ में अर्जुन भी थे, दोनों के साथ एक सिंह भी था, जो श्रीकृष्ण की माया से बना था।

ब्राह्मण वेशधारी श्रीकृष्ण ने मयूरध्वज से निवेदन किया—'महाराज आप बड़े धर्मात्मा हैं। कृपया मुझे संकट से उबारिये।'

मयूरध्वज ने उत्तर दिया—'आप हमारे अतिथि हैं। आपकी सहायता करना हमारा धर्म है। कहिए, आप क्या चाहते हैं?'

ब्राह्मण वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा—'महाराज, मैं अपने इस शिष्य (अर्जुन) के साथ वन-पथ से जा रहा था कि इस सिंह ने उसे पकड़ लिया। यह उसे मारकर खा जाना चाहता था। जब मैंने बहुत अनुनय-विनय की, तो यह इस शर्त पर छोड़ने के लिए तैयार हुआ कि यदि महाराज मयूरध्वज के दाहिने अंग को, उनकी धर्मपत्नी और राजकुमार अपने हाथ से काट कर दें, तो मैं तृप्त हो सकता हूँ।'

'मैं इसी उद्देश्य से आया हूँ महाराज, कि आप मेरे शिष्य की प्राण रक्षा करें।

मयूरध्वज ने अतीव प्रसन्नता के स्वर में कहा—'यह तो मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है कि आज मुझे अपने अतिथि देव की संतुष्टि के लिए अपने प्राण अर्पण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। आप चिन्ता न करें। मैं अवश्य आपकी कामना को पूर्ण करूँगा।

महाराज मयूरध्वज ने शीघ्र ही अपनी धर्मपत्नी और राजकुमार ताम्रध्वज को बुलाकर आदेश दिया कि, 'वे अपने हाथों से उनके शरीर का दाहिना अंग काटकर अतिथि देव को समर्पित कर दें।'

मयूरध्वज की धर्मपत्नी, और राजकुमार भी बड़े धर्म-प्रिय और आज्ञा-पालक थे। उन्होंने शीघ्र ही, बिना किसी दु:ख के मयूरध्वज की आज्ञा का पालन किया। मयूरध्वज की अतिथि-सेवा को देखकर श्रीकृष्ण और अर्जुन--दोनों द्रवित हो उठे। दोनों ने अपने असली वेश में प्रकट होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सुनते हैं, इस अनन्य अतिथि-निष्ठा के कारण मयूरध्वज के शरीर का अंग तो ठीक ही हो गया, उन्हें सशरीर स्वर्ग लोक भी प्राप्त हुआ। तुम यदि उनके चरित्र-पथ पर चलने का प्रयत्न करो तो निश्चय ही तुम्हारे हृदय में अतिथि-सेवा के गुण जागकर ही रहेंगे।

श्रीकृष्ण का आतिथ्य-सत्कार तो तुम्हें विस्मय-सागर में डुबोकर ही रहेगा, और तुम यह सोचे बिना न रहोगे कि, काश, तुम भी कृष्ण की भांति अतिथि-सेवी बन कर महान् पद के भागी बन सकते? क्या तुमने दुर्वासा जी का नाम सुना है? दुर्वासा एक महामुनि थे। स्वभाव के बड़े क्रोधी थे। बात-बात पर बिगड़ उठते थे, और बिना श्राप दिये नहीं मानते थे।

एक बार दुर्वासा जी यह कहते हुए चारों ओर घूम रहे थे कि कोई उन्हें अपने घर पर, रहने के लिए आश्रय दे। पर किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। अन्त में दुर्वासा जी द्वारका पहुँचे, और उन्होंने द्वार-द्वार जाकर लोगों से आश्रय की याचना की। पर किसी ने उन्हें अपने घर ठहरने न दिया। श्रीकृष्ण भगवान् के कानों में जब दुर्वासा जी की याचना कहानी पड़ी, तो उन्होंने बड़े आदर से उन्हें बुलाया और अपने राजभवन में रख लिया।

दुर्वासा क्रोधी तो थे ही, स्वभाव के भी बड़े अद्भुत थे। वे कभी बच्चों के समान स्वल्प भोजन करते थे, और कभी कई-कई हाथियों से भी अधिक भोजन कर डालते थे। द्वारका के राजभवन में भी उनके अद्भुत स्वभाव की अद्भुत लीला चलने लगी। किन्तु फिर भी सब शान्त ही रहते थे। जानते हो क्यों? इसलिए कि वे श्रीकृष्ण के अतिथि थे।

एक दिन दुर्वासा ने बड़ी विचित्र लीला की। वे जहाँ ठहरे थे, उन्होंने उस स्थान की सभी वस्तुओं में आग लगा दी। नौकरों चाकरों से खूब मारपीट भी की। फिर वे दौड़े-दौड़े श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और एक ही साँस में कह गए—'श्रीकृष्ण मैं इसी समय खीर खाना चाहता हूँ।'

आज्ञा की देर थी, श्रीकृष्ण की पटरानी शीघ्र ही खीर लेकर उपस्थित हो गई। दुर्वासा ने कुछ खीर तो खाई, शेष को जूठा करके छोड़ दिया।

दुर्वासा ने श्रीकृष्ण से कहा—'श्रीकृष्ण, तुम इस खीर को अपने अंगों में पोत लो।'

दुर्वासा अतिथि ! श्रीकृष्ण को उन्हें संतुष्ट करना ही था। उन्होंने जूठी खीर अपने अंगों में पोत ली। पर इतने से ही दुर्वासा का मन न भरा। उन्होंने रुक्मिणी को, जो खड़ी-खड़ी देख रही थीं, बची हुई खीर को अपने अंगों में पोतने की आज्ञा दी।

जब श्रीकृष्ण ने ही दुर्वासा की बात नहीं टाली, तो फिर भला रुक्मिणी कैसे टाल सकती थीं ! उन्होंने भी अवशिष्ट जूठी खीर को अपने अंगों में पोत लिया।

पर दुर्वासा के अद्भुत स्वभाव की अद्भुत लीला यहीं शान्त न हुई। उन्होंने रुक्मिणी को आदेश दिया—'तुम रथ में जुतो। मैं उस पर सवार हूँगा।'

रुक्मिणी करतीं तो क्या करतीं ? अश्व की तरह रथ में जा जुतीं। दुर्वासा रथ पर जा बैठे। रुक्मिणी रथ को खींचने लगीं। रथ द्वारका की सड़कों से—पथों से निकला। यदुवंशी देख-देख कर कुपित होने लगे। पर फिर भी सब शान्त ही रहे। क्योंकि दुर्वासा श्रीकृष्ण के अतिथि थे।

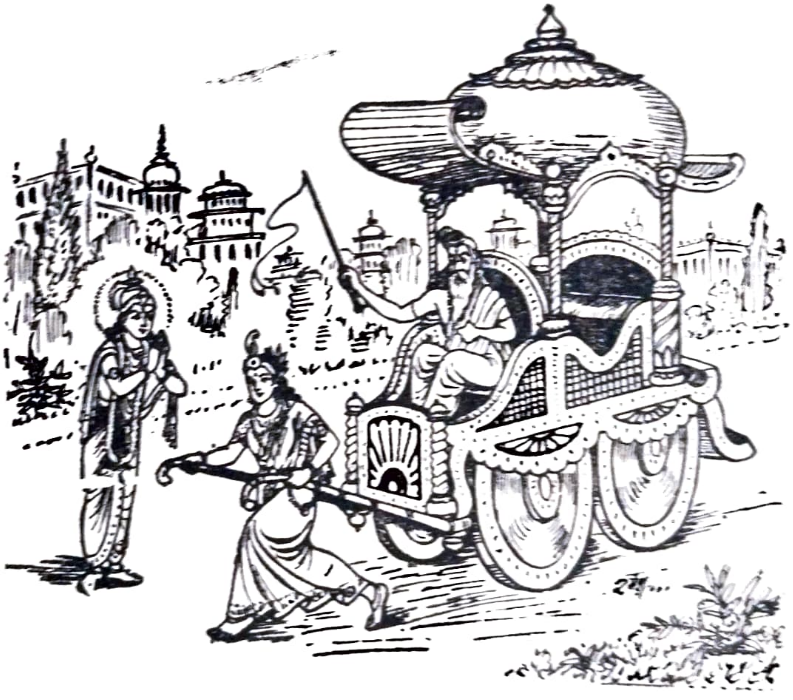

सहसा दुर्वासा रथ से कूद पड़े, और दक्षिण दिशा की ओर भाग कर, चलने लगे। श्रीकृष्ण ने भी दुर्वासा का अनुगमन किया और पुकार कर कहा—'अतिथि देव, प्रसन्न होइए। कहाँ जा रहे हैं आप ?'

दुर्वासा रुक गए। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—'महाबाहो श्रीकृष्ण, आप धन्य हैं। आपने क्रोध को जीत लिया है। आप सारे जगत में प्रिय और यशस्वी होंगे। आपने अपने अंगों में, मेरी जूठी खीर मलकर समस्त अस्त्र-शस्त्रों से अछेद्य बना दिया है। पर आपने अपने पैरों के तलुवे में खीर क्यों नहीं लगाई ? पैरों के तलुवे की ओर से आपको भयभीत ही रहना पड़ेगा !'

दुर्वासा की वाणी अक्षरशः सत्य हुई। श्रीकृष्ण की अतिथि-सेवा ने उन्हें घर-घर में सर्वप्रिय बना दिया है। शायद ही श्रीकृष्ण के समान कोई सर्वप्रिय हो ! यदि श्रीकृष्ण की तरह तुम भी अतिथि-सेवा को महत्व दो, तो निश्चय ही, तुम भी यशस्वी और महान् बनकर अपने को धन्य बना लोगे !

महाराणा प्रताप के नाम को भारत में कौन ऐसा है, जो न जानता होगा ? महाराणा प्रताप की पुत्री, चम्पा ने अतिथि सेवा का एक ऐसा दृष्टांत उपस्थित किया था, जिस पर महाराणा का शत्रु अकबर भी विमुग्ध हो उठा था, और सब-कुछ भूलकर, उनसे मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्तजित हो पड़ा था।

बात उन दिनों की है, जब महाराणा प्रताप मुगल सैनिकों के आक्रमण से बचने के लिए वनों और पहाड़ों की गोद में आश्रय ले रहे थे। उनके साथ कुछ सैनिक, महाराणी और बच्चे थे।

एक दिन जब महाराणा प्रताप की झोंपड़ी में खाने-पीने का कुछ भी सामान नहीं था, अकबर वेश बदलकर, अतिथि के रूप में जा पहुँचा। महाराणा प्रताप और उनकी महाराणी गुणवती को बड़ी चिन्ता हुई कि वे द्वार पर आये हुए अतिथि का सेवा-सत्कार किस प्रकार करें ?

माता-पिता को चिन्तित देखकर राजकन्या चंपा बोल उठी—'पिता जी, आप चिन्ता न करें ? मुझे अपने हिस्से की जो रोटियाँ मिली थीं, मैंने वे अपने छोटे भाई सुन्दर के लिए रख छोड़ी हैं। मैं अभी उन रोटियों को ला रही हूँ। आप अतिथि को भोजन देकर संतुष्ट करें।

चंपा दौड़कर झोंपड़ी में गई। किन्तु जब वह रोटियों को लेकर दौड़ती हुई चली तो एक पत्थर से ठोकर लगने के कारण गिर पड़ी और उसका सिर फट गया। देखते ही देखते प्राण-पखेरू उड़ गए। महाराणा प्रताप और महाराणी गुणवती का हृदय विदीर्ण हो उठा। विदीर्ण हो उठा हृदय अकबर का भी, जो छद्म रूप में प्रताप की झोंपड़ी पर उपस्थित हुआ था। उसे लगा कि, महाराणा प्रताप अपने शौर्य, अपनी धर्मनिष्ठा और अपनी अतिथि-सेवा से एक दिव्य स्वर्ग के के समान हैं। वह उस स्वर्ग तक कभी नहीं पहुँच सकेगा, कभी नहीं !

★★★

शरणागत वत्सल

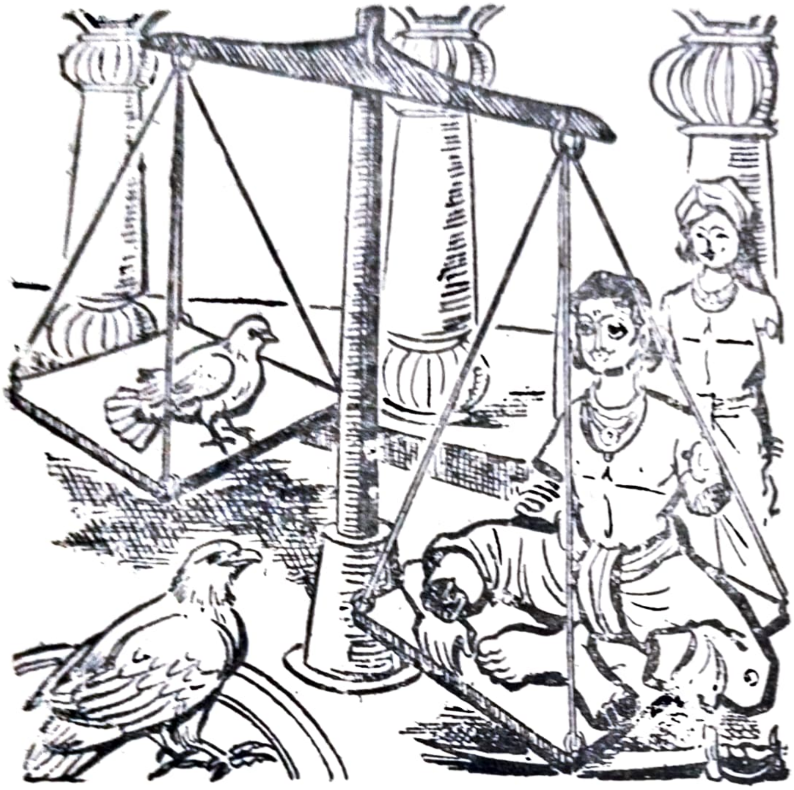

क्या तुम्हें मालूम है कि शरणागत-वत्सल किसे कहते हैं ? शरणागत-वत्सल उसे कहते हैं, जो शरण में आये हुए को अपने हृदय का प्यार देता है। यह मनुष्य के हृदय का सर्वश्रेष्ठ गुण है। यह एक कसौटी है जिस पर मनुष्य के गुणों की परख होती है। श्रेष्ठ मनुष्य वही है, जो इस कसौटी पर खरा उतरता है।

क्या तुमने महाराज शिवि की कहानी सुनी है ? महाराज शिवि 'उशीनर' के राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा और परोपकारी थे। उनके यश की कहानियाँ जब 'इन्द्र' के कानों में पड़ीं, तो वह ईर्ष्यालु हो उठा। उसने शिवि की परीक्षा लेने का निश्चय किया। वह स्वयं तो बाज बना और अपने साथी अग्नि देव को बनाया 'कपोत'। 'कपोत' भयभीत, भागता हुआ उड़ चला और 'बाज' ने उसका पीछा किया।

प्रातःकाल का समय था। महाराज शिवि पूजा-पाठ से निवृत्त होकर, प्रसन्न मुद्रा में सुआसन पर आसान थे। भयभीत कपोत उड़ता हुआ उनकी गोद में जाकर छिप गया। तुरन्त ही 'बाज' भी वहाँ आ पहुँचा और कुछ दूर पर बैठकर, मनुष्य की सी भाषा में बोला--'महाराज, यह कपोत मेरा आहार है। किसी का आहार छीनना उचित नहीं। आप कपोत को छोड़ दें।'

महाराज शिवि ने उत्तर दिया—'मैं इसे नहीं छोड़ सकता। यह मेरी शरण में आया है। इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है।'

बाज बोल उठा—'पर महाराज मैं बहुत भूखा हूँ। क्या भूखे जीव का भोजन छीनना पाप नहीं है ?'

महाराज शिवि ने उत्तर में कहा--तुम भूखे हो तो मैं तुम्हारे भोजन के लिए प्रबन्ध कर सकता हूँ।

बाज पुनः बोल उठा, 'पर महाराज मैं फल-फूल और अनाज आदि नहीं खाता।',

महाराज शिवि ने कहा, 'मैं तुम्हारे भोजन के लिए किसी जीव के मांस का

जिसे तुम पसन्द करो, प्रबन्ध कर सकता हूँ।'

बाज बोल उठा, 'छिः-छिः, आप यह क्या कह रहे हैं ? राजा होकर, आप मेरे लिए किसी जीव का वध करायेंगे ? यह तो बहुत बड़ा पाप है।'

महाराज शिवि चिंता में पड़ गये और कुछ देर सोच-बिचारकर उन्होंने कहा, 'किसी अन्य जीव का नहीं, मैं तुम्हें अपने शरीर का मांस दूंगा। तुम उसे खाकर अपनी भूख शान्त कर सकते हो।

बाज राजी हो गया। उसने कहा, 'ठीक है, आप कपोत की तोल के बराबर मुझे अपने शरीर का मांस दे दें। तो मैं कपोत के लिए आग्रह न करूँगा।'

महाराज शिवि का तो यह प्रस्ताव था ही। शीघ्र काँटा-तराजू मँगाता गया। एक पलड़े पर कपोत बैठा, और दूसरे पलड़े पर महाराज शिवि अपने शरीर का माँस काट-काट कर रखने लगे। महाराज शिवि ने धीरे-धीरे अपने आधे शरीर का मांस काट-काट कर दूसरे पलड़े पर रख दिया, पर फिर भी कपोत की तोल के बराबर न हुआ। अन्त में जब महाराज शिवि ने देखा कि इस तरह उनके मांस से कपोत नहीं तुलता तो वे पूरे शरीर के साथ दूसरे पलड़े पर जा बैठे। महाराज शिवि के इस आत्मोत्सर्ग को देखकर, वेशधारी इन्द्र और अग्नि देव—दोनों काँप उठे और अपने असली रूप में प्रकट होकर बोले, 'राजन् आप धन्य हैं। आपके समान शरणागत-वत्सल तीनों लोकों में कहीं खोजने पर भी कोई न मिलेगा ?'

शरणागत-रक्षण हमारे देश का विशिष्ट गुण है। हमारे देश के महान् पुरुषों की जब किसी ने शरण ली है, उन्होंने अपने को मिटाकर भी उसकी रक्षा की है। महाराज शिवि ममुष्य ही नहीं मनुष्य-रत्न थे। इसी कोटि के मनुष्य-रत्नों पर तो धरती गर्व करती है।

युधिष्ठिर की आश्रित-रक्षा की कथा भी बड़ी प्राणदायिनी और उत्साहवर्द्धक है। महाराज युधिष्ठिर को जब यह समाचार मिला कि, भगवान् श्रीकृष्ण इस धरती से चथे गये, तो बहुत दुखी हुए। वे परीक्षित को राजकाज सोंपकर, एक संन्यासी के रूप में स्वर्गारोहण के लिए उत्तर की ओर पैदल ही चल पड़े। उनके साथ उनके सभी भाई अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव और धर्मपत्नी द्रोपदी भी थी।

मार्ग में एक कुत्ते ने भी उनका साथ पकड़ लिया, और वह भी उन्हीं के साथ-साथ चल पड़ा।

हिमालय में बहुत दूर निकल जाने पर एक-एक करके उनके सभी भाई, द्रौपदी सहित बर्फ में गिर पड़े, और प्राण तज गए। बच गए युधिष्ठिर और वह कुत्ता, जो अब भी उनके साथ-साथ बर्फ में चल रहा था।

कुछ दूर और आगे जाने पर स्वयं देवराज इन्द्र विमान लेकर युधिष्ठिर के समक्ष

उपस्थित हुए और बोले, 'महाराज, आप इस विमान पर बैठकर सशरीर स्वर्ग चलें।'

युधिष्ठिर ने कहा, 'पर मेरे भाई और द्रौपदी ! आप उन्हें भी तो स्वर्ग ले चलें।'

इन्द्र ने उत्तर दिया, 'महाराज, वे तो पहले ही स्वर्ग पहुँच चुके हैं।'

युधिष्ठिर ने कुत्ते की ओर देखा, और देखते-ही-देखते कहा, 'आपको इस कुत्ते को भी मेरे साथ विमान पर बिठाकर स्वर्ग ले चलना होगा।'

इन्द्र ने कहा, 'यह कैसे हो सकता है ? आप जानते हो हैं कि वह एक नीच प्राणी है। भला, वह स्वर्ग में किस प्रकार रह सकता है ?'

युधिष्ठिर ने कहा, 'पर वह मेरा आश्रित है। बड़ी दूर से मेरे साथ चलकर, यहाँ तक आया है। मैं इसे कैसे छोड़ सकता हूँ।'

इन्द्र ने कहा, 'नीच जाति का एक प्राणी कुत्ता स्वर्ग कैसे जा सकता है। स्वर्ग तो बड़े-बड़े पुण्यात्माओं को मिलता है।'

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'यदि आप कुत्ते को मेरे साथ नहीं ले जा सकते, तो फिर मुझे भी छोड़ दीजिए। मैं स्वर्ग नहीं जा सकता।'

इन्द्र ने कहा—'तो क्या आप एक नीच प्राणी कुत्ते के लिए स्वर्ग छोड़ देंगे ?

युधिष्ठिर ने कहा—'कुत्ते' के लिए नहीं, अपने आश्रित्त के लिए, अपने शरणागत के लिए।'

शरणागत के लिए स्वर्ग का त्याग ! जिसकी प्राप्ति के लिए लोग बड़े-बड़े तप और यज्ञ करते हैं ! कुत्ता अपने क्षुद्र रूप को छोड़कर, वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। वास्तव में वह कुत्ता, स्वयं धर्म था, जो युधिष्ठिर के साथ-साथ चल रहा था। धर्म और देवराज इन्द्र ने युधिष्ठिर की भूरि-भूरि प्रशंसा की। जो लोग परमार्थ त्याग और 'आत्म-बलिदान' करते हैं वे इसी प्रकार देवताओं से भी आदर पाते हैं।

तुमने महाराणा हमीर का नाम अवश्य सुना होगा ! महाराणा हमीर रणथंभोर के राणा थे। वे बड़े प्रतापी और शूरवीर थे। जिन दिनों महाराणा हमीर रणथंभोर में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी का राज्य था। अलाउद्दीन बड़ा ही क्रूर और दुष्ट स्वभाव का बादशाह था।

अलाउद्दीन के दरबार में एक मंगोल सरदार रहता था। वह बादशाह का बड़ा मुँह-लगा था। बादशाह भी उसे बहुत अधिक आदर-मान देता था। पर एक दिन उससे भरे दरबार में ऐसी भूल हो गई कि अलाउद्दीन उससे अधिक क्रुद्ध हो उठा।

मंगोल सरदार भयभीत होकर, दिल्ली से भाग निकला। वह बड़े-बड़े राजा, महाराजाओं और नवाबों की शरण में गया 'किन्तु किसमें साहस था, जो वह अलाउद्दीन के क्रोध को मोल लेता ! आखिर, वह रणथंभौर पहुँचा। रणथंभोर में हमीर के सामने घुटने टेक कर, जब मंगोल सरदार ने शरण की याचना की, तो यह जानते हुए भी कि, इसके लिए अलाउद्दीन से वैर मोल लेना पड़ेगा, हमीर ने मंगोल सरदार को अपनी शरण में रख लिया।

अलाउद्दीन को जब यह खबर मिली, तो वह कुपित हो उठा। उसने शीघ्र ही दूत भेजकर असंतोष प्रकट किया, और साथ ही मंगोल सरदार की माँग की। पर अब तो महाराणा हमीर उसे अपनी रक्षा में ले चुके थे। उन्होंने सीधा-सा उत्तर दिया कि, मंगोल सरदार उनकी शरण में आया है। अतः वे उसकी रक्षा करना अपना परम धर्म और परम कर्त्तव्य समझते हैं।

अलाउद्दीन को जब राणा का उत्तर मिला, तो वह जल कर खाक हो गया। उसने रणथंभोर पर आक्रमण करने के लिए एक बहुत बड़ी सेना भेज दी। उधर राजपूत भी मरने-मारने के लिए तैयार ही थे ! युद्ध छिड़ गया। राजपूत ऐसी वीरता से लड़े कि, खिलजी के सैनिकों के छक्के छूट गए। खिलजी के बहुत से सैनिक मारे गए। पर फिर भी अलाउद्दीन निराश न हुआ। वह किले के चारों ओर घेरा डालकर पड़ा रहा। लगभग पाँच वर्षों तक अलाउद्दीन घेरा डाले पड़ा रहा। अलाउद्दीन के सैनिक बाहर मैदान में थे, इसलिए उन्हें बराबर सहायतायें-सुविधायें मिलती रहीं। पर उधर हमीर के सैनिक किले में थे—चारों ओर के मार्ग बन्द। धीरे-धीरे खाने-पीने का सामान खतम हो गया। राजपूत सैनिक भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर अपना दम तोड़ने लगे। मंगोल सरदार ने बार-बार राणा से प्रार्थना की, कि वे उसे अलाउद्दीन को सौंप कर इस आपदा से छुटकारा पा जायें, पर हमीर राजी न हुए। उन्होंने हर बार उसे यही उत्तर दिया, कि वे आखिरी साँस तक उसकी रक्षा करेंगे।

अन्त में जब किले में खाने-पीने के लिए कुछ भी न रहा, तो स्त्रियाँ चिता में जल कर मर गईं और पुरुषों ने युद्ध की विकराल अग्नि में अपने को होम कर दिया। स्वयं राणा ने भी अपने आत्मोत्सर्ग से युग-युगों के लिए अपने को धन्य बना लिया। मंगोल सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीन ने उससे पूछा कि, यदि उसे छोड़ दिया जाय तो वह क्या करेगा ? मंगोल सरदार ने उत्तर दिया, 'वह हमीर की संतान को दिल्ली के तख्त पर बिठाने के लिए उससे जिन्दगी भर युद्ध करेगा।'

ऐसी थी महाराणा हमीर की शरणागत-वत्सलता ! मित्र ही नहीं शत्रु भी उस पर रीझ उठे थे। आज आवश्यकता है कि घर-घर में हमीर पैदा हों और पैदा हो हमीर की तरह शरणागत-वत्सलता ! क्या हम-तुम इसके लिए प्रयत्न नहीं कर सकते ?

★★★

सेवा की अनन्यता

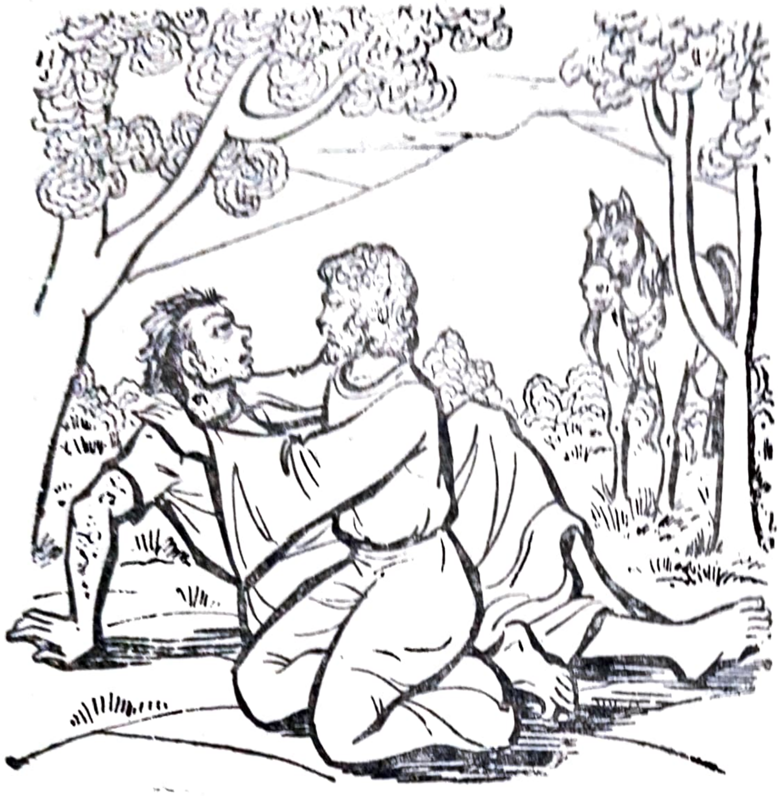

सेवा, सेवा, और सेवा ! संसार में चारों ओर सेवा ही सेवा है। सारा जगत् सेवा के ही सूत्र में बँधा हुआ है। संसार में जितने लोग हैं, सभी किसी न किसी रूप में परस्पर एक-दूसरे की सेवा करते हैं। घर के भीतर पुत्र माता-पिता की, माता-पिता पुत्र की और भाई-भाई की सेवा करता है। सारा परिवार 'सेवा' के ही पहिये से चलता है।

इसी प्रकार बाहरी दुनिया का सारा काम-काज भी सेवा से यथावत् चलता है। शिष्य गुरु की सेवा करता है और गुरु शिष्य की। सेवक मालिक की सेवा करता है और मालिक सेवक की। मालिक, मजदूर, राजा प्रजा, अफसर, कर्मचारीं सभी 'सेवा' के मंत्र से ही अपने-अपने स्थान में सिद्धि प्राप्त करते हैं।

तुम यह न समझो कि 'सेवा' केवल अकेली होती है। 'सेवा' के साथ और भी कई गुण होने चाहिए, जिनमें कर्त्तव्य-निष्ठा, परोपकार, दया, धर्म-पालन, सहनशीलता, और क्षमा मुख्य हैं। तुम अपने हृदय को टटोल कर देखो, तुम्हारे मन में कितनी सेवा-भावना है !

यदि तुम भक्त हो तो तुम्हें अपने आराध्य देव की सेवा हनुमान जी की तरह करनी चाहिए। सीता जी की खोज से लेकर, अयोध्या तक सदा हनुमान जी 'सेवा' में लगे रहे। उन्होंने अपनी 'सेवा' के बदले में कभी किसी वस्तु की याचना नहीं की। जब भी श्रीरामचन्द्र जी ने दूसरे लोगों को अमूल्य वस्तुयें पुरस्कार में दी, हनुमान जी ने 'सेवा' की याचना की। सेवा के बदले 'सेवा' की याचना करने वाला हनुमान जी के सदृश कदाचित ही कोई दूसरा मिले।

हनुमान जी अपनी सेवा-वृत्ति से; श्रीरामचन्द्र जी को चारों ओर से घेरे रहते थे। वे श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी बहुमुखी सेवा करते थे कि दूसरों की सेवा करने का अवसर ही नहीं मिलता था। परिणाम यह हुआ कि श्रीराम जी के भाइयों और दूसरे

अनुचरों के मन में ईर्ष्या पैदा हो उठी। सबने मिलकर निश्चय किया कि, सब को अलग-अलग सेवा बांट दी जाय। यह उचित नहीं, कि कोई एक आदमी ही सेवा के सभी कार्यों को पूरा करे।

फलतः सेवा-संबंधी कार्यों की एक सूची तैयार की गई। प्रत्येक कार्य के आगे एक-एक आदमी का नाम अंकित कर दिया गया। हनुमान जी ने पूछा—'इस सूची में उन्हें सेवा का कौन-सा कार्य सुपुर्द किया गया है?'

सूची हनुमान जी के हाथ में दे दी गई। हनुमान जी ने सारी सूची पढ़ी, पर उसमें उनका नाम ही नहीं था। पर वे तो महान् सेवाव्रती थे। उन्होंने चट अपने लिए सेवा का एक कार्य खोज लिया। इन्होंने कहा—'सूची में मेरा नाम न सही, पर अब मैं यही किया करूंगा कि, जब रामजी जँभाई लेंगे तब चुटकी बजाया करूंगा।

यदि तुम्हारा देश और समाज अकाल की पीढ़ी से आक्रान्त हो, तो तुम्हें 'सुप्रिया' की तरह अपने देश और समाज की सेवा करनी चाहिए। सुनो, सुप्रिया के आदर्श की कहानी। बात उन दिनों की है, जब महात्मा बुद्ध इस धरती पर थे। श्रावस्ती में अकाल मुँह फैलाकर दौड़ रहा था। स्त्री, पुरुष, बूढ़, जवान, बच्चे सभी भूख की ज्वाला में अपना दम तोड़ रहे थे। चारों ओर हाहाकार था।

महात्मा बुद्ध ने व्यवसायियों की, नगर-सेठों की, भूपतियों की एक सभा की। उन्होंने सबके सामने भूख से तड़प कर मरने वालों का चित्र रखा! और सबको सलाह दी कि, वे छिपाए गए अन्न भंडार को जन-कल्याण के लिए वितरित कर दें।

पर बात किसी सेठ के गले के नीचे न उतरी। सबने सत्य को छिपाया, अपनी विवशता प्रकट की महात्मा बुद्ध ने कहा—'क्या श्रावस्ती में कोई ऐसा नहीं है, जो भूख की ज्वाला में दम तोड़ने वाले अपने ही भाइयों के लिए कुछ कर सके!

'है'—एक ओर से आवाज आई। यह आवाज सुप्रसिद्ध नगर-सेठ अनाथ पिण्डद की कन्या, 'सुप्रिया' की थी। महात्मा बुद्ध ने उसे विस्मय-पूर्ण दृष्टि से देखा और देखते-ही-देखते कहा—'सुप्रिया तुम अकेली इतने बड़े जन-समूह को भूख की ज्वाला से कैसे बचा सकती हो?'

सुप्रिया ने उत्तर दिया—'प्रभो' मैं भिक्षा पात्र लेकर श्रावस्ती के पथ-पथ पर घूमूंगी और लोगों से भिक्षा के लिए याचना करूंगी।'

'महात्मा बुद्ध' ने सुप्रिया को आशीर्वाद दिया।

और सचमुच जब सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर निकली, तो उसके साथ भिक्षा माँगने वालों की एक बहुत बड़ी टोली बन गई! जिसमें बड़े-बड़े नगर-सेठ और भूपति-थे। फिर तो देखते ही देखते इतना अनाज एकत्र हो गया कि, लोगों को सोचना पड़ा कि, आखिर बचे हुई अनाज को क्या किया जाय!!

जो लोग 'सुप्रिया' की तरह 'लाज' और मर्यादा के बंधनों को तोड़कर समाज और देश की सेवा के लिए निकलते हैं, उन्हीं से सच्चे रूप में देश और समाज की सेवा भी होती है।

फूल जो सदा महकते ही रहेंगे